भारतीय समाज का संकट और मुक्ति के रास्ते

डॉ. माईकल
स्नातकोत्तर गाँधी विचार विभाग,
तिलका माँझी भागलपुर, विश्वविद्यालय भागलपुर, बिहार
Email:- drmaikalbh@gmail.com

प्राप्तिः 28.01.2021
स्वीकृतः 05.03.2021

सारांश

भारतीय समाज की जटिलताओं को जाति–वर्ण के परिप्रेक्ष्य में उन्नति में मुख्य बाधक के रूप में चिह्नित करते हुए इस समस्या के अनसुलझे रहने के कारण ही अतीत में भी भारतीय समाज को गंभीर परिणाम भुगताना पड़ा है और वर्तमान में भी विभिन्न संकटों के खिलाफ मुकम्मल लड़ाई कड़ी नहीं हो पाने के लिए यही कारक जिम्मेदार हैं। उन्होंने जाति विभेद का औचित्यपूर्ण व जायज ठहराने वाले रक्तशुद्धता व अनुवांशिक भिन्नता के तर्कों को अवैज्ञानिक सिद्ध करने का प्रयास करते हुए मनुष्य–मनुष्य के तमाम कृत्रिम भेदभाव को खारिज किया है। आजादी की लड़ाई के दौर में सामाजिक समस्याएँ अग्रेजों की गुलामी से मुक्ति के साथ–साथ प्रमुख एजेंडे के रूप में सामने आयी और स्वतन्त्रोपरांत इस दिशा में संवैधानिक प्रक्रिया के माध्यम से सामाजिक समस्याओं के समाधान के प्रयास किये गये। किन्तु इन प्रयासों के बावजूद समता आधारित समाज निर्माण का लक्ष्य प्राप्त नहीं हो सका है। सामाजिक समानता के साथ–साथ आर्थिक समानता पर भी भारतीय समाज के संकटों का समाधान तलाशने की जरुरत है। भगत सिंह, डॉ. लोहिया, लोकनायक जयप्रकाश नारायण आदि के विचारों के आधार पर भारतीय समाज के दोशपूर्ण ढांचे को बदलने का सबसे कारगर उपाय धर्म से ही मुक्ति का प्रयास किया है। वर्तमान आर्थिक संकटों के खिलाफ एकजूट संघर्ष की जरुरत है।

प्रस्तावना

भारतीय समाज आज सभी मोर्चो पर संकटग्रस्त है। इसमें से सामाजिक संकट भारत की सबसे गंभीर समस्या रही है। इस समस्या के अनसुलझे रहने के कारण ही अतीत में भी भारतीय समाज को गंभीर परिणाम भुगतना पड़ा है और वर्तमान में भी विभिन्न संकटों के खिलाफ मुकम्मल लड़ाई खड़ी नहीं हो पाने के लिए यही जिम्मेदार है। इसलिए जो कोई भी आज भारतीय समाज को नये सिरे से रचना–गढ़ना चाहते हैं उन्हें अन्य सवालों के साथ–साथ सामाजिक पहलुओं पर गंभीरतापूर्वक विचार करना होगा। आजादी की लड़ाई में गाँधी–अम्बेडकर से लेकर अन्य महापुरुषों ने इसे अपने–अपने नजरिये से देखा था और समस्या की सुलझाने का प्रयास किया था। बावजूद इसके सामाजिक समस्याएँ आज भी कायम हैं। डॉ. लोहिया तो मानते थे

कि "जाति–प्रथा हमारी लंबी गुलामी का एक बड़ा कारण रही है। हम एक हजार साल तक विदेशी हमलावरों के आगे इसलिए पराजित हुए क्योंकि जाति–प्रथा ने हमारी दो–तिहाई से अधिक आबादी को उदासीन और अर्धमृत बनाकर रखा था और देष की रक्षा का भार केवल एक जाति पर छोड़ रखा था। वे जाति–प्रथा को भारत के सांस्कृतिक और बौद्धिक पतन का भी प्रमुख करक मानते थे। उन्हें वैसे लोगों से बड़ी चिढ़ होती थी जो जातिवाद के खिलाफ तो बड़ी–बड़ी बातें करते हैं किन्तु उनका व्यवहार जाति के घेरे में होता है।"[1]

प्रसिद्ध समाजशास्त्री एम. एन. श्रीनिवास कहते हैं कि "आज भी अनेक महत्वपूर्ण मामलों में भारतीयों का जीवन–व्यवहार जाति से परिचालित होता है। जाति–व्यवस्था सामान्यता कठोर सामाजिक विशमता का आदिरूप है। जाति समाज को छोटे–छोटे समूहों में विभाजित करती है। जाति–व्यवस्था की वास्तविक इकाई वर्ण नहीं वरण् जाति है। जाति एक ऐसा बहुत छोटा समूह है, जिसमें अन्तर्विवाह होते है। एस समूह के सदस्य प्रायः अपना परम्परागत पैत्रिक व्यवसाय करते हैं और एक सीमा तक वह समूह सांस्कृतिक रीती–रिवाजों और न्यायिक मामलों में स्वशासित होता है। हरेक गाँव में या पास–पड़ोस के चंद गांवों में मिलकर प्रत्येक जाति के सदस्यों की एक जाति पंचायत होती है, जो जाति संबंधी अपराधों के लिए दंड देती है।''[2] वर्तमान में भी खाप पंचायतों व अन्य जाति आधारित संस्थाओं की भूमिका से इसकी पुष्टि होती है।

यह माना गया था कि आधुनिकता के प्रभाव में समाज का संस्कृतिकरण होगा और पुराने रुढ़िगत संस्कारों के समाज को छुकारा मिलेगा। इस संबंध में समाजवादी चिन्तक सच्चिदानंद सिन्हा कहते हैं कि दरअसल संस्कृतिकरण से पिछड़ों की सामाजिक स्थिति में बदलाव नहीं होता, उनके आत्मसम्मान में या अपने मूल्यांकन में जरुर बदलाव हो जाता है। पिछड़ी जाति और हरिजनों में से निकले कबीरपंथियों की तरह की अनेक जमातें संस्कृतिकरण के जारी हरी द्विजों से ज्यादा साफ–सुथरा जीवन जीती हैं लेकिन इस साफ–सुथरी जीवन शैली ने उन्हें उच्च जातियों के बीच बराबरी का दर्जा दिलाने या उनका दर्जा बढ़ाने का काम नहीं किया है। इसलिए संस्कृतिकरण की प्रक्रिया के बावजूद जाति व्यवस्था जड़ औए समाज को बांटनेवाली बनी हुई है और इसमें एक–दुसरे के प्रति अपमान और नफरत का भाव भरा है और इसने इतिहास की उस स्मृति को भी दिया कि वे सभी एक ही सामाजिक समूह से निकले हो सकते हैं या यह भी संभव है कि उन सबके पुरखे एक ही हों।[3]

दरअसल, जाति का अनिवार्य अर्थ जातिवाद ही है और उससे मिलनेवाली सुविधाओं के बदले पुरे देश को बहुत भारी कीमत चुकानी पड़ती है, तब कुछ नहीं हो सकती है. इस तथ्य से आम जनता को वाकिफ कराना कोई आसान काम नहीं है और तक न तो किसी राजनीतिक और न ही किसी सामाजिक कार्यकर्त्ता ने ऐसी किसी समस्या के प्रति कोई दिलचस्पी दिखाई है। यहाँ पहले यह समझना जरुरी है कि सिर्फ शुभेच्छाएँ रखना ही काफी नहीं होता, बल्कि इससे इच्छा के ठीक विपरीत परिस्थिति[4] भी पैदा हो सकती है।

इसलिए संविधान निर्मात्री सभा के अध्यक्ष के रूप में डॉ. अम्बेडकर के द्वारा तैयार किये गए संविधान में इस पहलू पर विशेष ध्यान दिया गया। भारतीय संविधान दो आधारभूत तत्वों

को मान्याता देता है– समता का अधिकार और समता की रणनीति। जिस समाज के विभिन्न समूहों में अतिदीर्घ काल से जबरदस्त सामाजिक विषमता व्याप्त हो वहां समता को स्थापना के लिए स्पष्ट रणनीति अनिवार्य है।[5] संविधान के अनुच्छेद–15 के अधीन धर्म जाति, प्रजाति, लिंग, जन्मस्थान आदि के आधार पर नागरिकों के बीच राज्य द्वारा भेद भाव करने की मनाही की गई है, लेकिन राज्य महिलाओं और बालकों के लिए विशेष व्यवस्था कर सकता है। मौलिक अधिकार में अनुच्छेद 24 के अंतर्गत कहा गया है कि 14 वर्श से कम उम्र के किसी भी बालक को कारखाना या संकट पूर्ण नियोजन में नहीं लगाया जाएगा। राज्य के नीति निर्देषक सिद्धांतों के अंतर्गत संविधान के अनुच्छेद 39 में कहा गया है कि सरकार ऐसी नीति का निर्देशन करेगी कि बालकों की कोमल उम्र का दुरुपयोग न हो, उन्हें स्वतंत्रता और गरिमा की दशाओं में स्पष्ट ढंग से विकसित होने के अवसर और सुविधाएँ मिल सके तथा उनकी बाल्यावस्था या युवावस्था शोषण और नैतिक एवं भौतिक परित्याग से रक्षित रह सके।[6]

संविधान में समता के तीन प्रमुख अधिकार मान्य किए गए हैं– 1. कानून के समक्ष समता और कानून के सामान सुरक्षा की गारंटी (अनुच्छेद–14), 2. धर्म, नस्ल, जाति, लिंग, स्थान के आधार पर भेदभाव पर प्रतिबन्ध (अनुच्छेद–15), 3. सार्वजानिक नौकरियों में सामान अवसर (अनुच्छेद–16)। किन्तु छुआछुत से ग्रस्त भारतीय समाज में समता के अधिकार को साकार बनाने के लिए इतना ही काफी नहीं था। इसलिए संविधान में एक और तो अनुच्छेद 17 के तहत छुआछुत के उन्मूलन की घोषणा कर उसे दण्डनीय अपराध बना दिया गया और दूसरी और अनुच्छेद 15 (14) में राज्य की सेवाओं में पर्याप्त प्रतिनिधित्व से वंचित पिछड़े 'समता का अधिकार हासिल करने लिए' आवश्यक परिस्थितियों के निर्माण में आवश्यक तो हैं, किन्तु पर्याप्त नहीं है।[7]

यही कारण है कि आधुनिक शिक्षा के बावजूद अस्पृश्यता संबंधी दृष्टिकोण में कोई बहुत गुणात्मक परिवर्तन नहीं आ पाया है। इसका अध्ययन करनेवाले विद्वानों के निष्कर्ष सर्वथा अलग हैं। उदहारण के लिए, बी. बी. षाह और के एम. कापडिया तथा उनके सहयोगी अलग–अलग सर्वेक्षण से इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि कॉलेज के छात्रों के दृष्टिकोण में भी जातिगत दूरियाँ अभी बनी हुई हैं। वे स्पृश्य जातियों के छात्रों के साथ जितना घुलते–मिलते हैं उतने अनुसूचित जाति के छात्रों के साथ नहीं घुलते–मिलते। अनुसूचित जाति के छात्रों के साथ मेल–जोल में वे दुरी बनाए रखते हैं।[8]

कापडिया ने अपने अध्ययन में छात्रों से अंतर्जातीय सहभोज और अन्तर्जातीय विवाहों के संबंध में भी प्रश्न पूछे थे। प्रायः इस प्रकार के प्रश्नों के उत्तरों में दस प्रतिशत उत्तर सही नहीं होते। इन अविश्वसनीय उत्तरों के आधार पर वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि छात्रों के अस्पृश्यता संबंधी दृष्टिकोणों में वास्तविक परिवर्तन बहुत कम हुआ है।[9]

दरअसल प्राचीनकाल में शूद्रों और अस्पृश्यों पर इस प्रकार की निर्योग्यताएं मेहनतकश आबादी के शोषण को स्थाई आधार प्रदान करने के लिए किया गया था। प्रसिद्ध इतिहासकार डॉ. रामशरण शर्मा का भी मत है कि शूद्रों पर भाँति–भाति की अशक्ताताऐं इसलिए लादी गई

ताकि वे उच्च वर्ण के श्रम का यथेष्ट भाग उनकी सुख–सुविधा के लिए देते रहें और वे उनके विरुद्ध किसी प्रकार का विरोध न करें।[10]

भारतीय समाज में व्याप्त अस्पृश्यता, जाति व वर्ण को लेकर वैसे तो कई महान विभूतियों ने समाधान का रास्ता बताया है किन्तु डॉ. अम्बेडकर, भगत सिंह व डॉ. रामामोहर लोहिया ने जो मार्ग दिखाया है उसपर विशेष तौर पर विचार करने की जरुरत है। भारत में छुआछुत को शर्मनाक बताते हुए भगत सिंह ने लिखा था कि "कुत्ता हमारी गोद में बैठ सकता है, हमारी रसोई में निःसंग फिरता है, लेकिन एक इंसान का हमसे स्पर्श हो जाए तो बस धर्म भ्रष्ट हो जाता है। ...सबको प्यार करने वाले भगवान की पूजा करने के लिए मंदिर बना है लेकिन वहां अछूता जा घुसे तो वह मंदिर अपवित्र हो जाता है। भगवान रुष्ट हो जाता है। घर की जब यह स्थिति हो तो बाहर हम बराबरी के नाम पर झगड़ते अच्छे लगते हैं? तब हमारे इस रवैये में कृतघ्नता को भी हद पाई जाती है। जो निम्नतम काम करके हमारे लिए सुविधाओं को उपलब्ध कराते हैं, उन्हें ही हम दुर दुराते हैं। पशुओं की पूजा कर सकते हैं, लेकिन इंसान को पास नहीं बिठा सकते।"[11]

वहीं डॉ. लोहिया हिंदू सामाजिक विषमता के लिए हिन्दू धर्म के अंर्तद्वंद्वों को जिम्मेवार ठहराते हुए कहते हैं कि हिन्दू धर्म एक आश्चर्यजनक दृश्य प्रस्तुत करता है। हिन्दू धर्म अपने मानने वालों को, छोटे से छोटे को भी, ऐसी दार्शनिक समानता, मनुष्य और मनुष्य अन्य वस्तुओं की एकता प्रदान करता है जिसकी मिसाल कहीं और नहीं मिलती। लेकिन दार्शनिक विषमता का व्यवहार चलता है। डॉ. लोहिया आगे कहते हैं कि मुझे अक्सर लगता है कि दार्शनिक हिन्दू खुशहाल होने पर गरीबों और शूद्रों से पशुओं जैसा, पशुओं से पत्थरों और अन्य वस्तुओं से दूसरी वस्तुओं की तरह व्यवहार करता है।[12]

हालांकि कुछ लोग जाति–वर्ण को धर्म से अलग कर देखते हैं और धर्म को मनुष्य के व्यक्तिगत आस्था का विषय बताते हैं। इसपर समावादी चिन्तक किशन पटनायक ने आश्चर्य भरे लहजे में कहा है कि "अतिशिक्षित लोग भी अक्सर कहते हैं कि धर्म एक निजी व्यापार है, इसलिए यह व्यक्तिगत चुनाव की बात है। लेकिन धर्म भी निजी व्यापार नहीं रहा। 99.9 सैकड़ा से भी अधिक अनुपात उन लोगों का है जिनके धर्म एक आकस्मिक यानी पूर्व–निर्धारित चीज है। जन्म के पूर्व धर्म निर्धारित रहता है।''[13]

इसलिए हिन्दू धर्म के भीतर इस समस्या से मुक्ति का रास्ते तलाशते हुए कई लोग यह महसूस करते हैं कि इस धर्म से ही छुटकारा ले लिया जाय। डॉ. लोहिया कहते हैं, हिन्दू धर्म में उदारता और कट्टरता की इस लड़ाई को खतम करने का सबसे अच्छा तरीका यह है कि धर्म से ही लड़ा जाय। यह हो सकता है लेकिन रास्ता टेढ़ा है और कौन जाने कि चालाक हिन्दू धर्म, धर्म विरोधियों को भी अपना एक अंग बनाकर निगल न जाए। कम्युनिज्म या फासिज्म जैसे लोकतंत्र विरोधी सिद्धांतों से ताकत पाने की खोज में जो वर्ण और नेतृत्व के मिलते–जुलते विचारों पर आधारित हैं, हिन्दू धर्म का कट्टरपंथी अंश भी धर्म विरोधी का बाना पहन सकता है। अब समय है कि हिन्दू सदियों से इकट्ठा हो रही गन्दगी को अपने दिमाग से निकालकर उसे साफ करे। जिंदगी असलियतों और अपनी परम सत्य की चेतना, सगुण सत्य और निर्गुण सत्य के बीच उसे

एक सच्चा और फलदायक रिश्ता कायम करना होगा। केवल इसी आधार पर वह वर्ण, स्त्री, संपत्ति और सहिष्णुता के सवालों पर हिन्दू धर्म के कट्टरपंथी तत्त्वों को हमेशा के लिए जित सकेगा जो इतने दिनों तक उसके विश्वासों को गंदा करते हैं और उसके देश के इतिहास में बिखराव लाते रहे हैं।[14]

प्राचीन काल में वर्ण व्यवस्था के खिलाफ दो बड़े विद्रोह हुए। एक पुरे उपनिषद् में वर्ण व्यवस्था को सभी रूपों में पूरी तरह खतम करने की कोशिश की गयी। हिन्दुस्तान के प्राचीन साहित्य में वर्ण व्यवस्था का जो विरोध मिलता है, उसके रूप, भाषा और विस्तार से पता चलता है कि ये विरोध दो अलग–अलग कालों में हुए–एक आलोचना का काल और दूसरा निन्दा का। मौर्य और गुप्त वंशों के स्वर्ण–काल वर्ण व्यवस्था के एक व्यापक के बाद हुए। लेकिन वर्ण कभी पूरी तरह खतम नहीं होते। कुछ कालों में बहुत सख्त होते हैं और कुछ अन्य कालों में उनका बंधन ढीला पड़जाता है। कट्टरपंथी और उदारवादी, वर्ण व्यवस्था के अन्दर ही एक दुसरे से जुड़े रहते हैं और हिन्दू इतिहास के दो कालों में एक या दूसरी धारा के प्रभुत्व का ही अंतर होता है। डॉ. लोहिया वर्तमान परिस्थिति में वर्ण की भूमिका का विश्लेषण करते हुए कहते हैं कि इस समय उदारवाद का जोर है और कट्टरपंथियों में इतनी हिम्मत नहीं है कि वे गौर कर सकें। लेकिन कट्टरता उदारवादी विचारों में घुसकर अपने को बचाने की कोशिश कर रही है। अगर जन्मना वर्णों की बात करने का समय नहीं तो कर्मणा जातियों की बात की जाती है। अगर लोग वर्ण व्यवस्था का समर्थन नहीं करते तो उसके खिलाफ काम भी शायद ही कभी करते हैं और एक वातावरण बन गया है जिसमें हिन्दुओं की तर्क बुद्धि और उनकी दिमागी आदतों में टकराव है। व्यवस्था के रूप में वर्ण कहीं–कहीं ढीले हो गए हैं लेकिन दिमागी आदत के रूप में अभी मौजूद हैं। डॉ. लोहिया आशंका व्यक्त करते हुए कहते हैं कि इसमें आशंका है कि हिन्दू धर्म में कट्टरता और उदारता का झगड़ा अभी भी हल न हो।[15]

सचमुच में आज भी अगर देखें तो इस मसाले पर विभेद गहरा है कि दलितों–पिछड़ों के लिए सरकारी नौकरियों में आरक्षण के माध्यम से इस खाई को पाटने का जो प्रयास किया गया उसका हस्र भी बहुत अच्छा नहीं है। मस्तराम कपूर कहते हैं कि सारा नौकरशाही वर्ग और शिक्षित मध्यवर्ग ऊँची जातियों से बने होने के कारण कभी भी मंडल आयोग की सिफारिशों को सही ढंग से लागू नहीं होने दिया गया। अब तो डॉक्टरों–इंजीनियरों ने आरक्षण के खिलाफ युद्ध ही छेड़ दिया है।[16] यह भारतीय समाज के लिए कोई शुभ संकेत नहीं है। इससे समस्याएँ सुलझने को तो नहीं ही है लेकिन इसके भयावह रूप धारण करने की संभावना अवश्य है। हालांकि यह तय है कि आरक्षण की व्यवस्था सामाजिक समता लाने के लिए पर्याप्त नहीं है, यह भी एक प्रकार से शासक वर्ग का औजार ही है। लेकिन विषमता आधारित सामाजिक ढांचा आरक्षण के औचित्य को तो सिद्ध करता ही है। दरअसल सामाजिक विषमता हमारे समय की एक अत्यंत व्यापक और गंभीर समस्या है। कमोबेश सभी समाज और देश इससे ग्रस्त है। यों यह कोई नई चीज नहीं है, किन्तु जो चीज सर्वथा नई है वह है इससे पीड़ित व्यक्तियों, वर्गों एवं समुदायों में विषमताओं के विरुद्ध जागृति और उन्नत लोगों तथा अन्य वर्गों के बराबर होने की उत्कट आकांक्षा कसा

उदय। सामाजिक विषमताएं पूर्ववर्त्ति समाजों में भी थी, परन्तु तब सामाजिक विषमताओं के संबंध में विभिन्न समाजों के दृष्टिकोणों में बहुत अंतर था। नाज शायद ही कोई ऐसा समाज हो, जिसके सदस्य सामाजिक विषमता की समस्या के प्रति उदासीन हों।[17]

डॉ. लोहिया की मान्यता थी कि हर व्यवस्था जिसमें कुछ लोग बहुसंख्य लोगों का शोषण करने की स्थिति में होते हैं जाति–व्यवस्था का ही रूप है। इसलिए वे पूंजीवादी व्यवस्था को जाति–व्यवस्था मानते थे और अंतर्राष्ट्रीय पूंजीवाद को (जिसका चरम रूप वर्तमान भूमंडलीकरण है) अंतर्राष्ट्रीय जाति–व्यवस्था ही कहते थे। वे संयुक्त राष्ट्र संघ को भी अंतर्राष्ट्रीय जाति–व्यवस्था कहते थे जिसमें पाँच देश 'सवर्ण' हैं और दो सौ के लगभग शेष देश 'शुद्र'। इस अंतर्राष्ट्रीय जाति–व्यवस्था को समाप्त करने के लिए उनकी स्पष्ट योजना थी जिसमें विश्व–संसद, विश्व–सरकार और विश्व–विकास प्राधिकरण की व्यवस्था है जो वर्तमान संयुक्त राष्ट्र संघ अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, विश्व बैंक आदि संस्थाओं की जगह लेंगे।[18]

दुर्भाग्यवश आज दलित संगठन सामाजिक भेदभाव के खिलाफ लड़ने को तो बात करते हैं किन्तु वे उदारीकरण, निजीकरण व भूमंडलीकरण को अन्यायपूर्ण व आर्थिक विषमता पैदा करने वाली नीतियों को निशाने पर लेती हैं। भगत सिंह अछूतों को अपने अधिकारों को प्राप्ति के लिए संगठन होकर संघर्ष करने की वकालत करते हुए पूंजीवादी शिकंजे में न फंसनें के प्रति सचेत करते हुए वास्तविक मुक्ति के लिए उसके खिलाफ संघर्ष करने की और उसी दौर में इशारा करते हैं। वे अछूतों से आह्मन करते हुए कहते हैं कि "लेकिन ध्यान रहे, नौकरशाही के झांसे में मत फंसना। यह तुम्हारी कोई सहायता नहीं करना चाहती, बल्कि तुम्हें अपना मोहरा बनाना चाहती है। यही पूंजीवादी नौकरशाही तुम्हारी गुलामी और गरीबी का असली कारन है। इसलिए तुम उसके साथ कभी न मिलना उसकी चालों से बचना तब सब कुछ ठीक हो जाएगा। तुम असली सर्वहारा हो, संगठनबद्ध हो जाओ। तुम्हारी कुछ भी हानि न होगी। बस, गुलामी की जंजीरें कट जाएंगी। उठो और वर्त्तमान व्यवस्था के विरुद्ध बगावत खड़ी कर दो। धीरे–धीरे होने वाले सुधारों से कुछ नहीं बन सकेगा। सामाजिक आन्दोलन से क्रांति पैदा कर दो तथा राजनीतिक और आर्थिक क्रांति के लिए कमर कास लो। तुम ही तो देश के मुख्य आधार हो, वास्तविक शक्ति हो। सोए हुए शेरों। उठो और बगावत कड़ी कर दो।[19] इस प्रकार हम देखते हैं कि भगत सिंह और डॉ. लोहिया दोनों जाति–वर्ण के साथ–साथ पूंजीवादी व्यवस्था को भी दलितों और भारतीय समाज के लिए घातक मानते हैं।

भारतीय समाज की समस्याओं से मुक्ति के रास्ते में हिन्दुओं का खंडित चरित्र भी बड़ी बाधा है। डॉ. लोहिया हिन्दुओं के दोहरे व खंडित दिमाग की असलियत को उजागर करने के साथ–साथ इलाज भी बताते हैं। उन्होंने कहा है कि जब तक हिन्दू जीवन की असलियतों को, काम और मशीन, जीवन और पैदावार, परिवार और जनसंख्या वृद्धि, गरीबी और अत्याचार और ऐसी अन्य असलियतों को वैज्ञानिक और लौकिक दृष्टि से स्वीकार करना नहीं सिखाता, तब तक वह अपने बंटे हुए दिमाग पर काबू नहीं पा सकता और न कट्टरता और न कट्टरता को ही खतम कर सकता है, जिसने अक्सर उसका सत्यानाश किया है।[20]

लोकनायक जय प्रकाश नारायण ने भी कहा है कि वर्णों, सम्प्रदायों, जातियों में बंटे हुए समाज के कारण हमारे अन्दर ऐसे गलत मूल्य, संस्कार और अंधविश्वास हावी हो गए हैं कि उनका न्याय और समता की जीवन पद्धति की जीवन–पद्धति से मेल नहीं बैठता। उदहारण के लिए जातिभेद एक ऐसी चीज है जो किसी कानून से नहीं मिटाई जा सकती हैं। कानून और पैसे से हरिजनों आदिवासियों आदि को स्थूल जब लोगों का मन बदलेगा और उन्हें अपने ही जैसे मनुष्य मानकर स्वीकार करेंगे और साथ ही वे हरिजन, आदिवासी आदि स्वयं अपना आत्मसम्मान प्रकट करने तथा अधिकारों की लड़ाई लड़ने के लिए साहसपूर्वक खड़े हो जायेंगे।[21]

मनुष्य–मनुष्य का भेद हमें मिटाना होगा। जाति–पाति, छुआछुत, सभी समाप्त करने होंगे। बिहार आन्दोलन के समय जे. पी. ने कहा था कि जनेऊ आदि उच्च जाति का प्रतीक माना जाता हो तो जनेऊ भी तोड़ना होगा। हिन्दुस्तान में अधिकतर वे लोग बसते हैं, जिन्हें जनेऊ पहनने का अधिकार नहीं है। महर्शि दयानंद ने वेदों के हवाले से यह सिद्ध कर दिया था कि जनेऊ धारण करने का अधिकार द्विजों के अलावा और लोगों को भी है, फिर भी व्यवहार में इसका ठीक उलटा है। अतः जातिवाद के साथ जुड़ी हुई इन सभी परम्पराओं का भी उन्मूलन करना होगा।

अस्पृश्यता और ऊँच–नीच पर आधारित जाति–विभेद के उन्मूलन की मांग थी कि उन भौतिक परिस्थितियों को बदला जाय, जिसमें वैदिक एवम ब्राह्मणवादी संस्कृति के शासक वर्ग स्वयं सत्ता को श्रम तथा मेहनत से अलग का मेहनतकश वर्ग का शोषण[22] कर रहे थे। दुर्भाग्यवश यह काम तक नहीं हो पाया और तो और अब तो इस दिशा में सोचना भी लगभग बंद कर दिया गया है और देश समाज में दोनों प्रकार की अतिवादिता चल रही है–एक तो जाति की उपस्थिति को ही खारिज करता है तो दूसरा इसे नियति मान बैठा है। वास्तविकता तो यह है कि अब तक हिन्दू दिमाग से कट्टरता कभी पूरी तरह दूर नहीं हुई इसमें कोई शक नहीं। इस झगड़े का कोई हल न होने के विनाशपूर्ण नतीजे निकले, इसमें भी कोई शक नहीं। जब तक हिन्दुओं के दिमाग से वर्ण भेद बिल्कुल ही खत्म नहीं होते या स्त्री को बिलकुल पुरुष के बराबर ही नहीं माना जाता, या संपत्ति और व्यवस्था के संबंध को पूरी तरह तोड़ा नहीं जाता तब तक कट्टरता भारतीय इतिहास में अपना विनाशकारी काम करती रहेगी और उसकी निष्क्रियता[23] को कायम रखेगी।

इसलिए यदि इस निष्क्रियता को मिटाना है तो उक्त पहलुओं पर गंभीरतापूर्वक विचार करते हुए जाति–वर्ण व अस्पृश्यता को जड़ से उखाड़ फेंकना होगा। तभी समता की बुनियाद पर भारतीय समाज का गठन हो सकेगा। सामाजिक बराबरी की लड़ाई लड़ने वालों को भी जाति, वर्ण साम्प्रदायिकता, स्त्री–पुरुष भेदभाव सहित वर्त्तमान आर्थिक संकटों से मुक्ति की लड़ाई लड़नी होगी। भूमंडलीकरण, उदारीकरण और निजीकरण के इस कठिन दौर में सामाजिक–आर्थिक राजनैतिक सवालों पर एकजूट होकर एक साथ हमला करना आज समय की मांग है।

संदर्भ ग्रन्थ

1. कपूर, मस्तराम; *डॉ. राममनोहर लोहिया : वर्तमान समाज के सन्दर्भ में,* अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लि. नई दिल्ली, संस्करण–2009, पृ0 **134**.
2. श्रीनवास, एम. एन., *रिलिजन एंड सोसाइटी एमंग द कुर्ग्स ऑफ साऊथ इंडिया,* पृ. 24.

3. सिन्हा, सच्चिदानंद; ***जाति व्यवस्था,*** राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2006, पृ0 **154–55.**
4. श्रीनिवास, एम. एन.; *आधुनिक भारत में जाति,* पूर्वोक्त, पृ0 **79**.
5. अय्यर, बी. आर. कृष्ण; *अम्बेडकर एन्ड दी दलित फ्यूचर,* पृ0 **19.**
6. डॉ. उपाध्याय, जयजय राम; *भारत का संविधान.* सेन्ट्रल लॉ ऐजेंसी, इलाहाबाद, पृ0 **6, 14 एवं 21.**
7. वेते, आंद्रे; *सोसाइटी एन्ड पॉलिटिक्स इन इंडिया,* पृ0 **199.**
8. शाह, बी. बी.; *सोशल चेंज एण्ड कॉलेज स्टूडेंट्स इन गुजरात,* पृ0 **5.**
9. कापडिया, के. एम. एवं उनके सहयोगी; *इंडस्ट्रीयलाइजेशन एन्ड रूरल सोसाइटी*
10. शर्मा, रामशरण; *शूद्रों का प्राचीन इतिहास,* नई दिल्ली, 1979 ई. पृ0. **123–124.**
11. चमनलाल (सं.); *शहीद भगत सिंहः दस्तावेजों के आईना में,* प्रकाशन विभाग, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण–2007, पृ0 **92..**
12. डॉ. लोहिया; *हिन्दू बनाम हिन्दू,* राममनोहर लोहिया समता न्यास, हैदराबाद, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण–1993, पृ0 **8.**
13. पटनायक, किशन; *विकल्पहीन नहीं है दुनिया,* राजकमल प्रकाषन नई दिल्ली, प्रथम संस्करण–2000, पृ0 **198.**
14. डॉ. लोहिया; *हिन्दू बनाम हिन्दू,* राममनोहर लोहिया समता न्यास, हैदराबाद, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण–1993, पृ0 **11–12.**
15. डॉ. लोहिया; *हिन्दू बनाम हिन्दू,* राममनोहर लोहिया समता न्यास, हैदराबाद, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण–1993, पृ0 **.2–3.**
16. कपूर, मस्तराम; डॉ. राममनोहर लोहिया : *वर्तमान समाज के सन्दर्भ में,* अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लि. नई दिल्ली, संस्करण–2009 पृ0 **136**.
17. वेते, आंद्रे (सं.); *सोशल इनिक्वॉलिटी,* पृ0 **9**.
18. कपूर, मस्तराम; डॉ. राममनोहर लोहिया : *वर्तमान समाज के सन्दर्भ में,* अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लि. नई दिल्ली, संस्करण–2009 पृ0 **137.**
19. चमनलाल (सं.); *शहीद भगत सिंहः दस्तावेजों के आईना में,* प्रकाशन विभाग, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण–2007, पृ0 **152.**
20. डॉ. लोहिया; *हिन्दू बनाम हिन्दू,* राममनोहर लोहिया समता न्यास, हैदराबाद, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण–1993, पृ0 **9.**
21. जे. पी.; *अगले तीन महीनेः चालू और भावी कार्यक्रम,* पृ0 **14**.
22. डॉ. रविदास, विलक्षण; *अछूत जातियां और बौद्ध धर्म, नयी किताब प्रकाशन,* दिल्ली, प्रथम संस्करण–2009, पृ0 **236.**
23. डॉ. लोहिया; *हिन्दू बनाम हिन्दू,* राममनोहर लोहिया समता न्यास, हैदराबाद, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण–1993, पृ0 **7.**